ओ३म्

परा-पूजा

स्वामी शंकराचार्य सरस्वती

ओ३म्

शंकराचार्य-प्रणीत

परापूजा

लेखक
स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

स्वामी सत्यानन्द स्मारक ट्रस्ट
आर्यसमाज, हिण्डौन सिटी (राज०)

प्रकाशकीय

मानव सभ्यता के ज्ञात इतिहास से यह तथ्य विदित होता है कि जहाँ अपने हितों के लिए चालाक लोगों ने जनसमूहों को दिग्भ्रमित किया वहीं उच्चादर्शों के कुछ प्रतिनिधियों ने लोगों को सत्य के अधिक निकट लाने का यत्न भी किया। इनमें से कुछ युगपुरुषों ने उस कालविशेष में प्रचलित या पनप रही कुप्रथाओं पर प्रहार कर उन्हें समाप्त करने का यत्न किया तो कुछेक ने शाश्वत मानव-मूल्यों के लिए कार्य किया।

बिना अध्ययन किये जब महात्मा बुद्ध ने, अपने समय के पण्डितों द्वारा यज्ञ में हिंसा किये जाने को वेदानुकूल तथा वेद को ईश्वर की वाणी बताये जाने पर, जब वेद और ईश्वर की सत्ता से विद्रोह किया तो बौद्धमत में कुछ अच्छाइयों के रहते हुए भी जो राष्ट्रीय क्षति हुई वह इतिहास से छिपी नहीं है। बौद्ध और जैनमत के अव्यावहारिक अहिंसा के व्यवहार ने जो राष्ट्रीय जड़ता उत्पन्न की तथा ईश्वर और वेद के प्रति लोगों में अनास्था उत्पन्न हुई उसके विरुद्ध आचार्य शंकर ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। अपने अल्पकालिक जीवन में आचार्य शंकर बहुत कुछ कर गये हैं।

जहाँ आचार्य शंकर ने जनजागृति का एक कालविशेष के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया वहीं उस कार्य के चिर-संचालन के लिए उन्होंने इस देश के चार कोनों पर चार केन्द्रों की स्थापना की। आचार्य शंकर ने मूर्तिपूजा का बड़े ही तीव्र शब्दों में विरोध किया है लेकिन आज उनके ही अनुयायी अपने आचार्य की शिक्षा के प्रतिकूल चल रहे हैं। जब कुछ समय की मूर्तिपूजा द्वारा सारे पाप कट जाएँ और मनोकामनाएँ पूर्ण हो जाएँ तो कौन कठोर सत्यानुकूल आचरण कर जीवन खपाना चाहेगा, लेकिन सत्य तो सत्य ही है।

साहित्य का एक उद्देश्य–सत्य का दिग्दर्शन कराना भी है और इसी उद्देश्य की पूर्तिहेतु हम आचार्य शंकर के उन भावों को जन-जन तक पहुँचाने में यत्नशील हुए हैं। आचार्य शंकर की रचना "परापूजा" को हम जिज्ञासु पाठकों के समक्ष उपस्थित कर रहे हैं। इसका भाष्य कर जहाँ हमें पूज्य स्वामी विद्यानन्दजी ने अनुग्रहीत कीया है वहीं इसका कलात्मक, सुन्दर और शुद्ध प्रकाशन पूज्य स्वामी जगदीश्वरानन्दजी के अमूल्य सहयोग द्वारा सम्भव हुआ है। यह पुस्तक अधिकतम पाठकों को लाभान्वित कर दिशायुक्त कर सकेगी इसी आशा और विश्वास के साथ दोनों पूज्य संन्यासियों का अनेकशः आभार!

स्वामी सत्यानन्द स्मारक ट्रस्ट द्वारा प्रारम्भ यह ज्ञानयज्ञ सभी पाठकों के सहयोग द्वारा चलता रहेगा, यही कामना लिये हुए।

—प्रभाकरदेव आर्य

श्री शङ्कराचार्य–प्रणीत

परा-पूजा

अखण्डे सच्चिदानन्दे निर्विकल्पैकरूपिणि ।
स्थितेऽद्वितीयभावेऽस्मिन्कथं पूजा विधीयते ॥१॥

जो अखण्ड, सच्चिदानन्द, एकमात्र निर्विकल्परूप और अद्वैतरूप में विद्यमान् है, उसकी पूजा कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती। पूजा के लिए द्वैतभाव (पूज्य-पूजक दो का होना) आवश्यक है।

भाष्य—ईश्वर एक सम्पूर्ण=अखण्ड तत्त्व है। जब यह कहा जाता है कि जीव ब्रह्म का अंश है तो इसका अर्थ यह होता है कि एक समय था जब हम सब ब्रह्म थे। कालान्तर में हम उससे पृथक् होकर उसके अंशरूप होकर रह गये। प्रकारान्तर से इसका अर्थ है कि ब्रह्म एक सावयव पदार्थ था। कालान्तर में उसका विघटन हो गया और वह टुकड़े-टुकड़े होकर संसार में बिखर गया—कोई यहाँ गिरा, कोई वहाँ गिरा। जब ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं थी तो यह विघटन किसने किया ? और यदि उसने आत्महत्या की और स्वयं अपने टुकड़े कर डाले तो प्रश्न होता है कि उसने ऐसा क्यों किया ? वस्तुतः परमेश्वर अखण्ड है। वह सदा एकरस रहता है। उसमें किसी प्रकार के विकार, परिणाम या विघटन की कल्पना नहीं की जा सकती।

अंश सदा अवयवी का होता है। जीवात्मा निरपेक्ष ब्रह्म का अंश—सम्पूर्ण इकाई में से काटा हुआ भाग नहीं हो सकता। शंकराचार्य का मत है कि ब्रह्म पूर्ण तथा अविभक्तरूप में जीवात्मा के रूप में

विद्यमान है, क्योंकि ब्रह्म बहुत-से मिलकर नहीं बना है, अतः यौगिक अर्थ में भी उसके टुकड़े नहीं हो सकते। इसलिए शंकर ने इस वाक्य का कि 'जीव सर्वोपरि सत्ता का अंश है' यह अर्थ लगाया कि जीव 'अंश के समान अर्थात् अंश जैसा है, क्योंकि निरवयव ब्रह्म का वास्तविक अंश होना सम्भव नहीं'—

'अंश इवांशो, न हि निरवयवस्य मुख्योंऽशः सम्भवति'।

—ब्रह्मसूत्रभाष्य २.३.४३

यदि जीव खण्डित ईश्वर का अंश होता तो उसमें अंशी ईश्वर के सभी गुण पाये जाते। समष्टि के सभी गुण तत्त्वतः व्यष्टि में विद्यमान रहते हैं। यदि समुद्र खारा हो तो उसके जल की एक-एक बूँद खारी होगी। चीनी का एक-एक दाना अनिवार्यतः मीठा और नमक का एक-एक दाना अनिवार्यतः नमकीन होगा। इसी प्रकार अंशी परमात्मा के सभी गुण उसके अंश जीवों में होने चाहिए थे, परन्तु परमेश्वर के सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्व, निर्भ्रान्तित्व, सर्वव्याप- कत्व आदि गुण जीव से और जीव के अल्पज्ञता, अल्पशक्ति, भ्रान्तित्व तथा परिच्छिन्नता आदि गुण परमेश्वर से सर्वथा भिन्न हैं। परमेश्वर नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-स्वभाव है, जबकि जीवात्मा जन्म-मरण के बन्धन में पड़ा उससे मुक्त होने के प्रयास में लगा रहता है। स्वयं शंकराचार्य लिखते हैं—**'यथा जीवः संसारदुःखमनुभवति नैवमीश्वरोऽनुभवति'** (वे.द. शंकरभाष्य २.३.४६) अर्थात् "जैसे जीव संसार के दुःख का अनुभव करता है, वैसे ईश्वर नहीं करता।" तब ईश्वर और जीव में अंशांशिभाव कैसे रह सकता है ? वस्तुतः एक आत्मा दूसरी आत्मा का अंश नहीं हो सकती। ईश्वर सदा से अखण्ड है और आगे भी सदा अखण्ड रहेगा।

सच्चिदानन्द=सत्+चित्+आनन्द। 'अस् भुवि' इस धातु से 'सत्' शब्द सिद्ध होता है। **यदस्ति त्रिषु कालेषु न बाध्यते तत् सत्,** अर्थात्

जो सदा वर्त्तमान रहे—भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान कालों में जिसका बाध न हो उसे 'सत्' कहते हैं। ऐसी वस्तु अपनी सत्ता के लिए किसी कारण की अपेक्षा नहीं रखती। किसी कारण से उत्पन्न पदार्थ त्रिकालवर्त्ती अर्थात् नित्य नहीं हो सकता। इसलिए जो अनादि-अनुत्पन्न और इस कारण अविनाशी हैं, वे ही नित्य हैं। ऐसे पदार्थ तीन हैं—ईश्वर, जीव और प्रकृति। 'चिती संज्ञाने' इस धातु से 'चित्' शब्द निष्पन्न होता है। **'यश्चेतति चेतयति संज्ञापयति'** अर्थात् जो चेतनस्वरूप है वह 'चित्' है। ऐसे दो पदार्थ हैं—जीवात्मा और परमात्मा। 'टुनदि समृद्धौ' इस धातु से 'आनन्द' शब्द सिद्ध होता है। **'आनन्दः स्वरूपमस्येति आनन्दः'**, अर्थात् जो आनन्दस्वरूप है, वह आनन्द है। ऐसा पदार्थ एक है—ईश्वर। जो सत्स्वरूप होने से 'सत्', चित्स्वरूप होने से 'चित्' और आनन्दस्वरूप होने से 'आनन्द' और तीनों को एकत्रित करने से सच्चिदानन्द है, वह ईश्वर है। इस प्रकार प्रकृति 'सत्' है, जीवात्मा और परमात्मा 'सच्चित्' हैं और केवल परमात्मा 'सच्चिदानन्द' है।

'सच्चित्' होने से जीवात्मा का आसन मात्र 'सत् प्रकृति' से ऊँचा है, किन्तु 'सच्चिदानन्द' परमात्मा से नीचा है। परमात्मा की ओर बढ़ने में जीवात्मा का उत्थान या उत्कर्ष है, प्रकृति में लिप्त होने में उसका पतन या अपकर्ष है। ईश्वरोन्मुख होकर प्रकृति का समुचित उपयोग करना मध्यम मार्ग है। 'स्व' प्रकृति का 'स्वामी' और परमात्मा का 'सेवक' बनकर रहने में उसका कल्याण है।

अद्वितीयभावे—जो अद्वितीयभाव से वर्त्तमान है अर्थात् जिसमें द्वैतभाव नहीं है, उसकी पूजा कदापि नहीं हो सकती, अर्थात् पूजा द्वैत-भाव होने पर ही सम्भव है। उपासना करनेवाले (आराधक) और उपास्यविषय (आराध्य) के बीच जो सम्बन्ध है वह इस बात का संकेत करता है कि दोनों में भेद है। भक्ति परमात्मा में आस्था और प्रेम का

नाम है। नारद ने उसे **'परमप्रेमरूपा'** कहा है। शाण्डिल्य के अनुसार परमेश्वर के प्रति प्रेम की पराकाष्ठा है—**'सा परानुरक्तिरीश्वरे'** । योगशास्त्र में इसे **'ईश्वरप्रणिधान'** के नाम से अभिहित किया है। इस प्रकार उपासक और उपास्य में द्वैत अनिवार्य है। वस्तुतः ईश्वर के प्रति आस्था और मुक्ति के लिए तीन का होना अनिवार्य है—जीवात्मा जो मुक्त होना चाहता है, प्रकृति का बन्धन जिससे उसे छूटना है, और परमात्मा जिसने उसे इस बन्धन से मुक्त करना है। इसलिए अद्वैत का प्रतिपादन करनेवालों को स्वीकार करना पड़ा—**'पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे'** अर्थात् यथार्थ में अद्वैत होते हुए भी भक्ति के लिए द्वैत अनिवार्य है। यह भी कहा जाता है कि—

द्वैतं मोहाय बोधात् प्राग्जाते बोधे मनीषया ।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम् ॥

ज्ञानप्राप्ति से पूर्व द्वैत मोह का कारण है, किन्तु बोध हो जाने पर पता चलता है कि अद्वैत से द्वैत कहीं अधिक सुन्दर है।

जीवात्मा और परमात्मा में अद्वैत या अभेद अर्थात् अनन्यत्व होने पर 'भक्ति' शब्द ही निरर्थक हो जाता है। एक ही व्यक्ति उपासक और उपास्य कैसे हो सकता है ? कौन किसकी उपासना करेगा ? स्वयं अपनी स्तुति या उपासना करना अथवा ब्रह्म का ब्रह्म की उपासना करना सर्वथा हास्यास्पद है। यदि मैं स्वयं ब्रह्म हूँ जो अविद्योपाधि के कारण जीव बनकर बन्धन में आ गया हूँ तो उससे छुटकारा पाने के लिए किसकी शरण में जाऊँ, क्योंकि मेरे अतिरिक्त तो कोई है ही नहीं। ज्ञानमार्गी होते हुए भी शंकराचार्य भक्ति की आवश्यकता एवं उपादेयता और तदर्थ द्वैत की सत्ता का निषेध नहीं कर सके। ईशोपनिषद् के स्वरचित भाष्य में १५वें मन्त्र की व्याख्या में 'सत्यधर्माय' का भाष्य करते हुए वे कह गये—**'सत्यधर्माय तव सत्यस्योपासनात् सत्यं धर्मो**

यस्य मम सोऽहं सत्यधर्मा तस्मै मह्यम्' अर्थात् 'तुझ सत्यस्वरूप की उपासना से मैं सत्यनिष्ठ हो गया हूँ' ।

वस्तुतः दो के बिना भक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती । जब तक उपासक को अपनी तुच्छता की और अपने उपास्य की महत्ता की अनुभूति न हो तब तक भक्तिभावना जाग्रत् नहीं हो सकती । मध्वाचार्य के मत में परमेश्वर के प्रति प्रेम का अनवरत प्रवाह भक्ति है । **'ध्यानं च इतरतिरस्कारपूर्वकभगवद्विषयकाखण्ड स्मृतिः'** (मध्वसिद्धान्तसार ५.२) अर्थात् समस्त पदार्थों से चित्त को हटाकर निरन्तर ईश्वर के चिन्तन में प्रवृत्त रहना भक्ति है । मध्व ने यहाँ प्रकारान्तर से तीनों सत्ताओं को स्पष्ट स्वीकार किया है—चिन्तक या उपासक (जीव), चिन्तन का विषय (ब्रह्म) तथा इतर समस्त पदार्थ (जगद्रूप प्रकृति) जिनसे चित्त को हटाना है ।

इस प्रसंग में सन्त तुकाराम के ये वाक्य बड़े सटीक हैं—

तुका ह्मणे आम्ही असोनिया जाण ।
तुज देवपण आणियेने ।
आम्ही नाहीं तरी तुज कोण हे पुसले ॥

—तुकाराम यां चे अभङ्ग ।

तुकाराम का कहना है—हे परमात्मदेव ! तुम यह समझ लो कि हम आत्माएँ हैं, इसीलिए तुम परमात्मा कहाते हो । यदि हम (जीवात्मा) न होते तो तुम्हें कौन पूछता ?

पूर्णस्याऽऽवाहनं कुत्र, सर्वाधारस्य चासनम् ।
स्वच्छस्य पाद्यमर्घ्यं च, शुद्धस्याचमनं कुतः ॥२॥

पूर्ण=सर्वव्यापक का आवाहन कैसे किया जा सकता है? सर्वाधार को बैठने के लिए आसन की क्या आवश्यकता है ? नित्य स्वच्छ को

पैर धोने के लिए पाद्य, मुँह धोने के लिए अर्घ्य और नित्य शुद्ध को आचमन करने के लिए जल कैसे दिया जा सकता है ?

बुलाया किसी को वहाँ जाता है जहाँ आहूत व्यक्ति पहले विद्यमान नहीं होता। जो पहले ही वहाँ उपस्थित हो उसे आवाज़ लगाकर आने के लिए कहना सरासर मूर्खता होगी। जड़ पाषाण से निर्मित मूर्त्ति में भगवान् तब आते हैं जब उनका आवाहन किया जाता है। इसे मूर्त्ति में प्राणप्रतिष्ठा करना कहा जाता है। कण-कण में व्याप्त होने से जो सदा मूर्त्ति में विद्यमान है—अन्दर भी और बाहर भी—उसके बुलाये जाने पर वहाँ आने का प्रश्न ही नहीं उठता। गति का नियम है—'A thing does not move where it is; it cannot move where it is not; it moves from where it is to where it is not.' अर्थात् कोई वस्तु वहाँ गति नहीं कर सकती जहाँ वह है और उस स्थान पर भी नहीं कर सकती जहाँ वह नहीं है। कोई वस्तु जहाँ है वहाँ से, जहाँ वह नहीं है वहाँ को गति कर सकती है। गति-विधान का यह नियम एकदेशी (परिच्छिन्न) वस्तु में ही घट सकता है, सर्वव्यापक (विभु) में नहीं। परमेश्वर का आवाहन करना अपने को और सबको धोखा देना है। आना-जाना वहाँ होता है जहाँ कोई पहले से न हो। श्री रामचन्द्रजी को वनवास दिया गया, क्योंकि वह वन में नहीं रहते थे। वह अयोध्या से वन में गये। १४ वर्ष की अवधि समाप्त होने पर वे वन से अयोध्या को लौटे, क्योंकि १४ वर्ष से वह अयोध्या में नहीं थे। जैसे आकाश अनन्त और सर्वव्यापक होने से कहीं नहीं आता-जाता, वैसे ही अनन्त, सर्वव्यापी तथा सर्वान्तर्यामी होने से परमात्मा का कहीं आना-जाना उपपन्न नहीं होता।

वेदान्तदर्शन में एक सूत्र में कहा है कि आत्मा की उत्क्रान्ति, गति और आगति होने से आत्मा अणु परिमाण अथवा परिच्छिन्न

है—**'उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्'** (वे.द. २.३.२६)। यहाँ सूत्र का अर्थ करने में 'अणु' पद का अध्याहार किया गया है। इस प्रकार एक स्थान को छोड़ना और दूसरे स्थान को जाना आत्मा के परिच्छिन्न या अणुपरिमाण होने को सिद्ध करता है। अर्थापत्ति से इसका अर्थ है कि सर्वव्यापक परमात्मा में आना-जाना सम्भव नहीं। इस आवाहन से परमात्मा की सर्वव्यापकता पर भी प्रश्नचिह्न लग जाता है, क्योंकि इससे कण-कण में व्याप्त परमेश्वर का मूर्त्ति में न होना सिद्ध होता है, वहाँ होता तो उसका आवाहन क्यों किया जाता ? फिर, प्राणप्रतिष्ठा हो जाने पर भी प्राण आदि के कारण होनेवाला कोई लक्षण मूर्त्ति में दिखाई नहीं देता—न वह सांस लेती है, न बोलती है, न खाती-पीती है, न हँसती-खेलती है और न कहीं आती-जाती है। पहले की भाँति निष्क्रिय खड़ी रहती है।

यदि मन्त्रबल से परमेश्वर को जहाँ चाहे बुलाया जाकर मूर्त्ति में प्रविष्ट किया जा सकता है तो अपने प्रिय जनों के मरने पर उनकी आत्मा को उनके शरीरों में प्रविष्ट कर प्राणसंचार करना सम्भव क्यों नहीं ? जिन मन्त्रों में सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को बुलाने की शक्ति है, उनसे अल्पशक्ति जीवात्माओं को बुलाने में क्या बाधा हो सकती है ? सत्य तो यह है कि ईश्वरीय व्यवस्था में हस्तक्षेप करके उसके नियमों को अन्यथा करने का सामर्थ्य किसी में नहीं है। जो पदार्थ (पाषणादि) जड़ बनाये गये हैं, वे कभी चेतन नहीं हो सकते।

प्राणप्रतिष्ठा के सन्दर्भ में पौराणिक पण्डित अथर्ववेद का एक मन्त्र प्रस्तुत करते हैं—**'एह्यश्मानमातिष्ठ अश्मा भवतु ते तनूः'** (अथर्व० २.१३.४) अर्थात् हे ईश्वर ! आओ, इस पत्थर में ठहरो और यह पत्थर तुम्हारा शरीर रहे। परन्तु पण्डितजी मन्त्र का अगला भाग नहीं देखते जिसमें कहा है—**'कृण्वन्तु विश्वे देवाः आयुष्टे शरदः शतम्'**

अर्थात् सब देवता तुम्हारी आयु सौ वर्ष की करें। पौराणिकों के अर्थ से ऐसा लगता है जैसे भगवान् के मूर्त्ति में जन्म होने पर जातकर्मसंस्कार की समाप्ति पर उन्हें सौ वर्ष तक जीने का आशीर्वाद दिया जा रहा हो। मूर्त्तिपूजा को वेदसम्मत सिद्ध करने के लिए इस मन्त्र का प्राणप्रतिष्ठा मे बलात् विनियोग किया गया है।

वास्तव में यह मन्त्र समावर्त्तन अर्थात् ब्रह्मचारी के विद्या की समाप्ति पर घर लौटने के समय का है। इसमें ब्रह्मचारी को आशीर्वाद देते हुए कहा गया है—"हे ब्रह्मचारी ! तू इस पाषाण पर पैर रख। तेरा शरीर पत्थर के समान सुदृढ़ और बलिष्ठ हो। भगवान् तुम्हें सौ वर्ष की आयु अर्थात् दीर्घायु प्रदान करे।"

सायणाचार्य ने भी इस मन्त्र का समावर्त्तन संस्कार में विनियोग करके इसका भाष्य इस प्रकार किया है—**"हे माणवक ! एहि आगच्छ, अश्मानमातिष्ठ, दक्षिणेन पादेन आक्रम। ते सर्वतनूः शरीरं अश्मा भवतु, अश्मवद् रोगादिविनिर्मुक्तं दृढं भवतु। विश्वे देवाश्च ते तव शतसंवत्सरपरिमितं आयुः कृण्वन्तु कुर्वन्तु।"** अर्थात् हे ब्रह्मचारी ! तुम यहाँ आओ और अपना दक्षिण पैर इस पत्थर पर रक्खो। तुम्हारा शरीर नीरोग और इस पत्थर की तरह दृढ़ हो।

सर्वाधार—यजुर्वेद में बताया है—**'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्'** (१३.४)। उस प्रभु ने प्रकाशरहित भूगोलादि और प्रकाशयुक्त सूर्यादि लोकों को धारण किया हुआ है। अन्यत्र (यजुः० ३२.६) कहा है—**"येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्व स्तभितं येन नाकः"**—अर्थात् 'येन पुरुषेण द्यौः उद्गूर्णा वृष्टिदायिनी कृता। पृथिवी च दृढा स्थिरा प्राणिधारणाय वृष्टिग्रहणाय च अन्ननिष्पादनाय च कृता। येन च स्वः आदित्यमण्डलं स्तभितं स्तम्भितं येन च नाकः स्वर्गो लोकः स्तम्भितः। यश्चान्तरिक्षे रजसः उदकस्य वृष्टिलक्षणस्य विमानो निर्माता' (उवट)।

जिस जगदीश्वर ने तीव्र तेजवाले सूर्यादि प्रकाशयुक्त पदार्थ और भूमि दृढ़ की है...... जो मध्यवर्ती आकाश में वर्त्तमान लोकसमूह का निर्माता है। लोक में प्रसिद्ध है कि 'शेष' ने पृथिवी (सबका उपलक्षण) को धारण किया हुआ है, परन्तु शेष किसी सर्प का नहीं, अपितु परमेश्वर का नाम है, क्योंकि सब पदार्थों के अपने मूलकारण में लय होने पर जब संसार में अन्य कुछ नहीं रहता तब परमेश्वर ही 'शेष' रहता है। अथर्ववेद के १०वें काण्ड के सातवें सूक्त में इस विषय का कि यह संसार किस 'स्कम्भ' (खम्भे) के सहारे टिका हुआ है, विस्तृत विचार हुआ है। वहाँ इसके उत्तर में भिन्न-भिन्न वाक्यों में एक-सी बात कही गई है। उदाहरणार्थ—

यस्मिन्त्स्तब्ध्वा प्रजापतिर्लोकान्त्सर्वां अधारयत् ।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥७॥

अर्थात् वह स्कम्भ (स्तम्भ) वही सुखस्वरूप परमेश्वर है जिसने सब लोक-लोकान्तर को धारण किया है। शंकर ने ठीक कहा है कि इतने शक्तिशाली पुरुष (परमेश्वर) को न बैठने की आवश्यकता है और न उसके अनुरूप कोई आसन मिल सकता है।

पाद्यमर्घ्यं च—पैर धोने के लिए जो जल दिया जाता है, वह 'पाद्य' कहाता है। इसी प्रकार मुख धोने के लिए दिया जानेवाला जल 'अर्घ्य' कहाता है। ये दोनों समूचे शरीर के प्रक्षालन के लिए अपेक्षित जल के उपलक्षण हैं। **'अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति'** जल से शरीर स्वच्छ होता है। जो अकाय या अशरीरी है, उसके लिए जल की कोई आवश्यकता नहीं। जिसे मल स्पर्श नहीं करता है वह सदा निर्मल है। जिसे प्यास नहीं सताती उसे आचमन से कोई प्रयोजन नहीं। 'शुन्ध शुद्धौ' से शुद्ध शब्द बनता है। जो स्वयं पवित्र हो और दूसरों को पवित्र करता हो वह शुद्ध कहाता है—**'यः शुन्धति सर्वान् शोधयति**

वा स शुद्धः परमेश्वरः'। 'शुध शौचे' से भी 'शुद्ध' शब्द निष्पन्न हो सकता है—**'शुध्यति शोधयति वा स शुद्धः'**। स्वयं शुद्ध और परिशोधक होने से परमेश्वर **'शुद्धमपापविद्धम्'** (यजुः० ४०।८) है। लोक में शुद्धिकरण के दो साधन है—जल और अग्नि। दोनों शुद्ध करते हैं, पर दोनों में एक अन्तर है। जल के सम्पर्क में आनेवाला पदार्थ तो शुद्ध हो जाता है, पर उससे शोधक जल स्वयं अशुद्ध हो जाता है। इसके विपरीत अग्नि अपने सम्पर्क में आनेवाली अशुद्धि को तो नष्ट कर ही देती है और स्वयं भी शुद्ध बनी रहती है।

परमेश्वर अत्यन्त शुद्ध, निर्मल और पवित्र है। न उसमें शारीरिक अशुद्धि है और न मानसिक विकार। शरीरी न होने के कारण उसे कोई भौतिक मलिनता नहीं छू सकती। मानसिक दृष्टि से वह 'अपापविद्ध'—पापरहित है। जीवात्मा को अपने कर्मों का फल भोगने के लिए बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखना पड़ता है, क्योंकि विषयरूप सामग्री बाह्य जगत् में ही उपलब्ध होती है। आत्मा शरीर के भीतर रहता है, बाहर उसकी गति नहीं होती, इसलिए बाह्य जगत् से सम्पर्क करने के लिए उसे मन के रूप में सम्पर्क- अधिकारी की अपेक्षा होती है, परन्तु परमात्मा तो सर्वव्यापक है। जगत् की प्रत्येक वस्तु के साथ उसका सीधा सम्पर्क है। इसलिए उसे बिचौलिए मन की आवश्यकता नहीं होती। मन भी सूक्ष्मशरीर का अंग है, अशरीरी होने के कारण वह उसके पास नहीं है। यदि होता तो सत्त्व-रजस्-तमस् से प्रभावित होने से कभी-न-कभी उसमें भी मलिनता आ सकती थी। इस प्रकार मन से रहित होने के कारण वह 'अपापविद्ध' शुद्धमपापविद्धम् है। पाप के मूल में अज्ञान होता है। परमात्मा सर्वज्ञ है, अतः अज्ञान व अविद्या के कारण होनेवाले पाप से वह अछूता है।

निर्मलस्य कुतः स्नानं, वस्त्रं विश्वोदरस्य च ।
अगोत्रस्य त्ववर्णस्य, कुतस्तस्योपवीतकम् ॥३॥

जो सदा निर्मल है उसका स्नान से क्या प्रयोजन ? जिसके उदर में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड समाया हुआ है, उसे वस्त्र कैसे पहनाएँगे ? जो गोत्र और वर्ण से रहित है, उसे यज्ञोपवीत कैसे पहनाएँगे ?

निर्मलस्य—ईश्वर नित्य निर्मल है। ईशोपनिषद् के आठवें मन्त्र में परमेश्वर का एक विशेषण 'शुक्रम्' आया है। 'ईशुचिर्पूतीभावे' (धातुपाठ ४.५४) इस धातु से 'शुक्र' शब्द सिद्ध होता है। 'यः शुच्यति शोचयति वा स शुक्रः' जो अत्यन्त पवित्र हो और जिसके सम्पर्क में आकर अन्य भी पवित्र हो जाएँ, वह 'शुक्र' कहाता है। जो स्वभाव से निर्मल है, वह किसी भी अवस्था में अन्यथा नहीं हो सकता, क्योंकि स्वभाव का नाश नहीं होता। वायु को कभी ठण्डा और कभी गरम किया जा सकता है, क्योंकि शीतलता या उष्णता वायु का स्वाभाविक गुण नहीं है, परन्तु अग्नि को ठण्डा नहीं किया जा सकता, क्योंकि दाहकता उसका स्वाभाविक गुण है। शंकराचार्य श्रुति को स्वतःप्रमाण मानते हैं। फिर भी कहते हैं—कि सैकड़ों श्रुतिवाक्य भी अग्नि को ठण्डा नहीं कर सकते। दुर्जनतोषन्याय से यह मान लेने पर भी कि सर्वशक्तिमान् ब्रह्म उपाधिग्रस्त हो जाता है, यह नहीं माना जा सकता कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' किसी अवस्था में अपने स्वाभाविक गुण का परित्याग कर सकता है, क्योंकि स्वयं शंकर के शब्दों में **'न ह्युपाधियोगादप्यन्यादृशस्य वस्तुनोऽन्यादृशः स्वभावः सम्भवति'** (वे.द. ३.२.११) अर्थात् उपाधि के कारण किसी वस्तु का स्वभाव नहीं बदल जाता। इसलिए नित्य, पवित्र परमेश्वर को स्नान कराना सर्वथा व्यर्थ है।

वक्षं विश्वोदरस्य—अथर्ववेद (१०.७.३२-३४) में ब्रह्म के विराट् रूप का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

भूमि जिसका पैर है, अन्तरिक्ष पेट और द्यौ सिर है, सूर्य तथा पुनः नवीन होता हुआ चन्द्रमा, जिसके नेत्र हैं, अग्नि को जिसने अपना मुख बनाया है, वायु जिसके प्राण-अपान हैं और समस्त प्रकाश जिसके नेत्र हैं, दिशाओं को जिसने व्यवहार-साधन बनाया है, उस सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म के लिए नमस्कार है।

इसी से मिलता-जुलता वर्णन मुण्डकोपनिषद् में पाया जाता है—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ
दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य
पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥

तेजोमय द्युलोक जिसका सिर है, चन्द्र-सूर्य जिसके नेत्र हैं, दिशा श्रोत्र और वेद वाणी हैं; वायु, प्राण एवं विश्व हृदय है तथा पृथिवी पैर हैं—वही समस्त जगत् का अन्तरात्मा है।

यह परमात्मा के काल्पनिक विराट् रूप का वर्णन है, जिसका अभिप्राय आलंकारिकरूप में उसकी सर्वव्यापकता, सर्वान्तर्यामिता तथा सर्वशक्तिमत्ता का आभास देना है।

तो क्या ईश्वर इतना ही बड़ा है ? नहीं, वह परमेश्वर तो इस सारे विश्व की अपेक्षा कहीं महान् है। स्थावर-जंगम के रूप में विद्यमान ये सब भूत=प्राणी तो परमेश्वर का एक पाद हैं, तीन पाद अपने अविनाशी प्रकाशस्वरूप में विद्यमान हैं—'

'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।'

—ऋ० १०.९०.३; यजुः० ३१.३

पद, पाद, अंश, भाग एकार्थवाची हैं। यहाँ 'एक पाद' या 'तीन पाद' किसी परिमाण के द्योतक नहीं हैं, क्योंकि जिसके विषय में यह सब कहा गया है, वह निरवयव, अखण्ड ब्रह्म है। इस प्रकार का वर्णन किये जाने से परमात्मा के अनन्त माहात्म्य का बोध होने में सहायता मिलती है। तात्पर्य यह है कि उस असीम सत्ता के सन्मुख यह अनन्त विश्व भी अत्यन्त तुच्छ है, अर्थात् उसका अंशमात्र है। इस प्रकार यद्यपि यहाँ भूतों के अंशमात्र का निर्देश है, पर है यह सब सर्वथा औपचारिक।

इतने विराट् शरीर को आच्छादित करने के लिए कितना बड़ा वस्त्र चाहिए। निश्चय ही आच्छाद्य से आच्छादक बड़ा होना चाहिए। कहाँ मिलेगा इतना बड़ा आच्छादक वस्त्र ? समस्त ब्रह्माण्ड को भी जिसके शरीर का एक चौथाई भाग बताया गया है वह मन्दिर के एक कोने में रक्खी मूर्त्ति तो हो नहीं सकती। उसे ढककर कोई यह समझे कि मैंने परमेश्वर को ढक दिया तो यह उसका पागलपन है। इसलिए शंकर ने कहा कि सारा ब्रह्माण्ड जिसके पेट में समाया हुआ है और फिर भी पेट खाली पड़ा है, क्योंकि यह ब्रह्माण्ड तो उसके शरीर के एक चौथाई से भी कम पड़ता है, उसे ढकने के लिए वस्त्र कहाँ मिलेगा।

मुण्डकोपनिषद् (१.१.६) में ईश्वर का परिचय इन शब्दों में दिया है—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं
तदपाणिपादम् । नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं
तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥

अर्थात् जो अदृश्य है, ज्ञानेन्द्रियों का विषय नहीं है, कर्मेन्द्रियों से अग्राह्य है, उसका न कोई गोत्र है, न वर्ण है, न जिसके हाथ-पाँव या आँख-कान हैं, अर्थात् जो सर्वथा निरवयव है, जो नित्य और सर्वत्र व्याप्त है, सबमें अन्तर्निविष्ट है, अति सूक्ष्म है, अव्यय=निर्विकार है और जो समस्त भूतों—चराचर जगत् का कारण है, उसे धीर पुरुष देखते और जानते हैं।

यह वर्णन है उस अविनाशी, अपरिणामी ब्रह्म के स्वरूप का जिसका संकेत शंकर ने उपनिषद् में आये **'अगोत्रमवर्णम्'** इन शब्दों के आधार पर अपने श्लोक में **'अगोत्रस्य त्ववर्णस्य'** इन शब्दों में किया है। यह वर्णन उस अक्षर ब्रह्म का है जिसे परा विद्या से जाना जाता है—

'परा यया तदक्षरमधिगम्यते'। (मु.१.१.५)

इससे पूर्व इस उपनिषद् में वेदों को 'अपरा' विद्या के और उपनिषदों को 'परा' विद्या के ग्रन्थ बताया है। इस कारण किसी-किसी की ऐसी मान्यता है कि वेद केवल अपरा (भौतिक) विद्या के ग्रन्थ हैं। परा (अध्यात्म) विद्या के लिए उपनिषद् प्रमाण हैं। उपनिषदों का परा-विद्या के ग्रन्थ होना निर्विवाद हैं। उनमें अपरा-विद्या के लिए कोई स्थान नहीं है, अतः अपरा-विद्या के लिए निर्देश आवश्यक था। वह यहाँ कर दिया गया। वेद के विषय में भगवान् मनु की घोषणा है—**'सर्वज्ञानमयो हि सः'** तथा **'सर्वं वेदात् प्रसिध्यति'**। इस प्रकार समस्त ज्ञान-विज्ञान के भण्डार वेद तो केवल परा-विद्या के ग्रन्थ न होकर अपरा-विद्या के भी हैं। वेदों में जहाँ ब्रह्मविद्या का मूल है, वहाँ वे मनुष्य के लौकिक अथवा भौतिक जीवन के लिए अपेक्षित इतर ज्ञान के भी आदिमूल हैं। इसके

विपरीत उपनिषद् केवल परा अथवा अध्यात्म विद्या के ही ग्रन्थ हैं, लौकिक जीवन से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है।

शंकराचार्य का कहना है कि अगोत्र तथा अवर्ण इत्यादि शब्दों से जिस ब्रह्म का निर्देश किया गया है, वह निराकार होने के कारण यज्ञोपवीत धारण नहीं कर सकता। यज्ञोपवीत बायें कन्धे के ऊपर कण्ठ के पास से सिर बीच में से निकालकर दाहिने हाथ के नीचे बगल में से निकालकर कटि पर धारण किया जाता है। शंकर कहते हैं कि निराकार होने से भगवान् का न सिर है, न हाथ है, न बगल है और न कटि है। ऐसा परमेश्वर यज्ञोपवीत धारण करने में असमर्थ है। उसे किसी कर्मकाण्ड में भी भाग नहीं लेना है। फिर उसे यज्ञोपवीत पहनाने का नाटक क्यों किया जाए ?

निर्लेपस्य कुतो गन्धः पुष्पं निर्वासनस्य च ।
निर्विशेषस्य का भूषा कोऽलङ्कारो निराकृतेः ॥४॥

निर्लेप के लिए गन्ध कैसा ? जो सूंघ नहीं सकता और इस कारण उसे सुगन्धि की कामना भी नहीं वह हाथ में पुष्प लेकर क्या करेगा ? निर्विशेष की कैसी वेषभूषा ? कार्यविशेष या पदविशेष के कारण विशेष प्रकार की वेशभूषा की आवश्यकता होती है। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा संन्यासी के लिए नियत वेश धारण करना आवश्यक है। पुलीस के सिपाही या सेना के सिपाही, यहाँ तक कि थलसेना, जलसेना तथा वायुसेना के कर्मचारियों की अलग-अलग वर्दी होती है, पादरियों की पहचान भी विशेष वेशभूषा से होती है। इस प्रकार जाति, गुण, कार्य आदि से सम्बन्धित विशेष प्रकार की वेशभूषा परमेश्वर के लिए अपेक्षित नहीं है। वस्तुतः निराकार के लिए अलंकारों का होना व्यर्थ है, क्योंकि धारण करने के लिए अपेक्षित काया उसके पास नहीं है।

इस मूर्खता का परिणाम ? एक समझदार (चोर) मूर्त्ति को देखकर सोचने लगा—'इतने बहुमूल्य वस्त्राभूषण इनके किस काम के हैं ? साधारण मनुष्य तो अपने को सजा-सँवरा देखकर आनन्द अनुभव करता है, पर ये तो स्वयं आनन्दस्वरूप हैं। आप्तकाम होने से इनकी कोई आवश्यकताएँ नहीं हैं। परिवार न होने से कोई दायित्व नहीं। मैं अगर ले-जाऊँ तो इनका तो कुछ बिगड़ेगा नहीं, पर मेरे काम सँवर जाएँगे। बच्चे पढ़-लिख जाएँगे, बेटियों के हाथ पीले हो जाएँगे। इन्हें कोई आवश्यकता होगी भी तो संकल्पमात्र से फिर हो जाएँगे। भगवान् ठहरे, इन्हें किस बात की कमी है।' यह सोचकर वस्त्राभूषण उतार चलता बना।

निरञ्जनस्य किं धूपैर्दीपैर्वा सर्वसाक्षिणः।
निजानन्दैकतृप्तस्य नैवेद्यं किं भवेदिह ॥५॥

जो निरंजन है, उसे धूप से क्या प्रयोजन ? जो सबका साक्षी है, उसे देखने के लिए दीपकों के प्रकाश की क्या आवश्यकता है ? जो स्वयं आनन्दस्वरूप है—पूर्णतया तृप्त है, उसे नैवेद्य की अपेक्षा क्यों हो?

निरञ्जन—'अञ्जनं मायाऽविद्ययोर्नाम निर्गतमञ्जनं यस्मात् स निरञ्जनः' माया शब्द छल-कपट का वाचक है और अविद्या अज्ञान का। जिसे माया और अविद्या (अज्ञान) का लेशमात्र भी सम्बन्ध न कभी हुआ और न होगा, उसका नाम निरञ्जन है। परमेश्वर ऐसी ही सत्ता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (६.१९) में परमात्मा के लिए इस नाम का प्रयोग हुआ है—

'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्'।

सर्वसाक्षिणः—सर्वव्यापक होने से परमात्मा सर्वद्रष्टा है। ऋग्वेद (१०.९०.१) में उसे **'सहस्रशीर्षा सहस्राक्षः सहस्रपात्'** कहा है।

'सहस्र' यहाँ 'अनन्त' का वाचक है। अथर्ववेद (१३.२.२६) में उसका वर्णन इन शब्दों में किया गया है—**'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्'**। यजुर्वेद (३२.४) के अनुसार वह 'सर्वतोमुखः' है। श्वेताश्वतरोपनिषद् (३.१६) में लिखा है—**'सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरो मुखम्'**। परमात्मा के देहाङ्गों का यह औपचारिक एवं आलंकारिक वर्णन उसके सर्वव्यापी तथा सर्वद्रष्टा होने का द्योतक है। न्यायाधीश के सामने सच बोलने की प्रेरणा करते हुए मनु ने कहा है—

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे ।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येषः पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥

—मनु० ८।९१

"हे भले मानस ! यदि तू यह समझता है कि तू अकेला है और तेरे किये कर्म को देखने या जाननेवाला कोई नहीं है, तो तू भूल कर रहा है। बुरे-भले को देखनेवाला वह सर्वज्ञ परमात्मा सदा तेरे हृदय में अवस्थित रहता है। वह तेरे समस्त मनोभावों को जानता है। इसलिए सत्य के विपरीत कुछ मत कहना।" न्यायाधीश के सामने साक्षी देनेवाला निश्चय ही जीवात्मा है। भगवान् मनु स्पष्ट कह रहे हैं कि साक्षी के हृदयप्रदेश में स्थित जीवात्मा से अतिरिक्त उसके पाप-पुण्य का द्रष्टा परमात्मा है—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'।

—गीता १८।६१

इस विषय में परमेश्वर की सर्वव्यापकता के साथ उसकी गुप्त विज्ञता को दर्शानेवाला अथर्ववेद का यह मन्त्र है—

यस्तिष्ठति यश्चरति यश्च वञ्चति यो निलायं
चरति यः प्रतङ्कम् । द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते
राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥ —अथर्व० ४.१६.२

जो खड़ा है, जो बैठा है, जो दूसरे को ठगता है, जो छिपकर कहीं जाता है, जो दूसरे पर अत्याचार करता है और जो दो पुरुष मिलकर गुप्त मन्त्रणा करते हैं, उन दोनों के बीच तीसरा वरुण उनकी बातों को जानता है।

विश्वानन्दयितुस्तस्य किं तांबूलं प्रकल्पयते ।
स्वयं प्रकाशश्चिद्रूपो योऽसावर्कादिभासकः ॥६॥

जो तमाम विश्व को आनन्द देनेवाला है, उसे पान खाने में क्या आनन्द आएगा ? जो स्वयं प्रकाशस्वरूप और ज्ञानस्वरूप है और सूर्य आदि को प्रकाश देता है, उसे देखने के लिए भौतिक साधनों से प्राप्य प्रकाश की क्या आवश्यकता है ?

प्रकृति सर्वथा जड़ है, वह आनन्द को क्या जाने ? जीव स्वयं सच्चित् है, इधर-उधर की वस्तुओं में आनन्द खोजता फिरता है। जो स्वयं भिखारी है वह दूसरों को क्या देगा ? ब्रह्म के आनन्दस्वरूप होने का उल्लेख शास्त्रों में अनेकत्र हुआ है। तद्यथा—

'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' ।

—तै. २.६

जो आनन्दरूप ब्रह्म को जान लेता है, वह कहीं, किसी से नहीं डरता।

'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' ।

उस आनन्दस्वरूप ब्रह्म की प्रेरणा से ही यह चराचर जगत् प्रादुर्भूत होता है।

'रसो वै सः । रसं ह्यवायं लब्धानन्दी भवति' । —तै. २.७

वह परमात्मा आनन्दस्वरूप है, उसी आनन्दस्वरूप को पाकर जीवात्मा आनन्दमय होता है । वही सबको आनन्द प्रदान करता है । ऐसे आनन्दरूप ब्रह्म को पान खिलाकर प्रसन्न करने की चेष्टा करना ऐसा है जैसा एक भिखारी का किसी सेठ के आगे रोटी का एक टुकड़ा फेंक देना ।

परमात्मा के प्रकाशस्वरूप को व्यक्त करने के लिए कठोपनिषद् में लिखा है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनु भाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ —कठ० ५.१५

वह तो इतना भासमान है कि वहाँ सूर्य का प्रकाश फीका पड़ जाता है, वहाँ चाँद और तारे प्रकाशहीन हो जाते हैं, उसके सामने तो विद्युत् की चमक भी व्यर्थ हो जाती है, फिर इस अग्नि का तो क्या कहना ? वास्तव में सूर्य आदि सब उसी से प्रकाश पाकर चमक रहे हैं । इन सबमें उसी का आभास है । जिस ज्योतिपुंज से प्रकाश पाकर ये सब प्रकाशित हो रहे हैं और जिस आनन्दस्वरूप को प्राप्त करके मनुष्य आनन्द से भर जाता है, उसे पान का टुकड़ा देना उससे ठट्ठा करना है ।

प्रदक्षिणा ह्यनन्तस्य ह्यद्वयस्य कुतो नतिः ।
वेदवाक्यैरवेद्यस्य कुतः स्तोत्रं विधीयते ॥७॥

अनन्त की प्रदक्षिणा सम्भव नहीं, द्वितीय के बिना नमन सम्भव नहीं, वेदवाक्यों से अज्ञेय की स्तुति का विधान कैसे हो सकता है ?

प्रदक्षिणा का अर्थ है चारों ओर घूमना। चारों ओर उसी के घूमा जा सकता है जिसका ओर-छोर हो। जिसका ओर-छोर नहीं उसकी सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। जिसकी सीमाएँ नहीं हैं, उसकी सीमाओं के बाद घूमने के लिए स्थान नहीं मिलेगा। ऐसी स्थिति में प्रदक्षिणा की कल्पना नहीं की जा सकती। परमेश्वर अनन्त है, असीम है। इसलिए उसके 'चारों ओर' घूमना नहीं बनता। लोक में जिस मकान के एक ओर सड़क हो और तीन ओर निरन्तर दूसरे घर लगे हों उसकी प्रदक्षिणा नहीं हो सकती, क्योंकि तीन ओर घूमने के लिए खाली स्थान उपलब्ध नहीं होता। गोवर्धन पर्वत की तो प्रदक्षिणा की जा सकती है, क्योंकि उसकी सीमाएँ हैं, परन्तु परमात्मा की प्रदक्षिणा उसके असीम होने के कारण नहीं हो सकती।

अद्वय=दो के बिना नमन नहीं किया जा सकता। जैसे उपासना अथवा भक्ति के लिए उपासक और उपास्य अथवा भक्त और भगवान् दो का होना आवश्यक है, वैसे ही नमन के लिए 'नमस्य' या 'नमस्कृत' का होना नितान्त आवश्यक है। अभिवादन के लिए कोई अपने ही पैरों में सिर नहीं झुकाता। यतः 'अद्वय'=अद्वितीय या अभेद में भक्ति सम्भव नहीं, अतः द्वैत अनिवार्य है। वास्तव में 'द्वैत' के अभाव में 'अद्वैत' की सिद्धि नहीं हो सकती। 'अद्वैत' शब्द का अर्थ है—**'द्वयोर्भावो द्विता, द्वितैव द्वैतम्, न विद्यते द्वैतं यस्मिंस्तद् अद्वैतम्'**। 'द्वि' शब्द की प्रवृत्ति के कारणभाव का नाम है 'द्विता' अर्थात् 'द्वि' शब्द की प्रवृत्ति का कारण है—भेद। बिना भेद के द्वि शब्द की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अतः 'द्विता' का मुख्य अर्थ हुआ भेद। 'द्विता' से स्वार्थ में 'अण्' होकर शब्द 'द्वैत' निष्पन्न होता है। इस प्रकार 'द्विता'=द्वैत=भेद नहीं है जिसमें वह 'अद्वैत' हुआ अर्थात् सजातीय, विजातीय भेदशून्य।

अब विचारणीय यहाँ यह है कि यदि अद्वैतवादियों के मत में ब्रह्म से अतिरिक्त दूसरा कोई पदार्थ नहीं है तो द्विता या द्वैत की सिद्धि कैसे होगी ? और उसके अभाव में 'अद्वैत' ब्रह्म का विशेषण कैसे बनेगा ? यदि प्रपञ्चरूप जगत्स्थ पदार्थों की दृष्टि से द्वैत की सिद्धि मानी जाएगी तो मिथ्या की अपेक्षा से होनेवाला द्वैत भी मिथ्या ही होगा। तब उसके अभाव को द्योतन करनेवाला अद्वैत भी मिथ्या सिद्ध होगा। फिर वह मिथ्या विशेषण सद् ब्रह्म का कैसे हो सकता है ? अतः अद्वैत शब्द ही बता रहा है कि कहीं 'द्वैत'=भेद सत्यरूप से अवश्य विद्यमान है और उस सत्य भेद=द्वैत के अभाव का निर्देश ही अद्वैत शब्द से होता है। इस प्रकार 'अद्वैत' शब्द ब्रह्म का विशेषण मात्र है। इससे जीव और प्रकृति का अथवा कार्यरूप जगत् का अभाव या निषेध सिद्ध नहीं होता।

यह सत्य है कि विशेषण भेदकारक होता है, परन्तु प्रवर्त्तक और प्रकाशक भी होता है—यह भी उतना ही सत्य है। 'अद्वैत' ब्रह्म का विशेषण है। व्यावर्त्तक धर्म के रूप में 'अद्वैत' ब्रह्म को जीवों तथा अन्य वस्तुओं से पृथक् करता है और प्रवर्त्तक एवं प्रकाशक धर्म के नाते वह ब्रह्म के एक होने की प्रवृत्ति करता है। यदि किसी के सम्बन्ध में यह कहा जाए कि वह अद्वितीय विद्वान् या योद्धा है तो इसका इतना ही अभिप्राय है कि उसके समान विद्वान् या योद्धा नहीं है, न कि यह कि उसके अतिरिक्त और कोई विद्वान् या योद्धा संसार में है ही नहीं। इसी प्रकार ब्रह्म को अद्वितीय या अद्वय कहने का यह अर्थ नहीं कि उससे भिन्न पृथिवी आदि जड़ पदार्थों का या पश्वादि चेतन पदार्थों का अस्तित्व ही नहीं है। इसका अभिप्राय इतना ही है कि ब्रह्म के सदृश अन्य कुछ नहीं है और जहाँ जीव तथा प्रकृतिस्थ पदार्थ अनेक हैं, वहाँ ब्रह्म सदा से एक है, न दो हैं, न तीन आदि आदि। इस प्रकार अद्वितीय

या अद्वय शब्द से ब्रह्म का एकत्व तथा अन्य पदार्थों से विलक्षण होना सिद्ध होता है।

ब्रह्म को 'एकमेवाद्वितीयम्' कहकर उपनिषत्कार ने अथर्ववेद के एतद्विषयक मन्त्र को मानो सूत्रबद्ध करके ब्रह्म के एक होने की पुष्टि की है। अथर्ववेद (१३।४।१६-२०) में कहा है—

'न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ।
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ।
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ।
स एष एक एकवृदेक एव ।'

अर्थात् परमात्मा न दो हैं, न तीन और न चार। न वह पाँच, न छह और न सात। न वह आठ है, न नौ और न दस। वह एक है, निश्चय ही वह एक है।

मौलाना अबुल कलाम आज़ाद ने इसलाम को वहदानियत का अलम्बरदार घोषित करते हुए अपने क़ुरानभाष्य (Tarjaman–Al–Quran) में पृष्ठ १३६-१३७ पर लिखा है—

"The Quranic concept of the unity of God is so perfect and definite that we can scarcely find the like of it prevailing before. Every other religion before the delivery of the Quran had emphasised the positive side of the unity of God, but had made no attempt to present the negative side of it. The positive side is that God is one. The negative side is that there is none like Him. And when there is none like Him, it follows that whatever attributes that may be assigned to him, cannot be assigned to any other. The niceties implicit in the concept of the unity in attributes were not appreciated in other religions. That is why we find in every religion the belief in the unity of God subsisting side by side with image and

hero-worship. The result was that the founder of a religion was hailed, sometimes as Avatar, sometimes as the son of God and sometimes as partner of God and, where this was not possible, he was, at any rate, offered the honour and devotion usually offered to God."

हमारा इस विषय में कहना है—

"The idea that the supreme being is one, without a second, is the monopoly of Islam, is baseless. The concept of God in the Bible is anthropomorphic. The Christian trinity of 'Father, Son and the Holy ghost–one in three and three in one' is no monotheism; nay, it is not even theism. While the Christian mystics declare that they see in the highest mystic vision the blessed Trinity, the Muslim mystics deny this triune Conception. Evenso, the Muslims cannot think of God without practically equaiting him with the Prophet. The Quran is said to assert most emphatically that god alone is worthy of worship and if you turn to any other in devotion, your spirit of devotion is vitiated and you cease to be a Muslim and a believer of God. But here too, the Prophet who was initially assigned the position of a servant of God, soon delegated to himself the authority and powers of God himself. The Quran itself designated him as co-partner in the business, so that no one can enter the fold of Islam who does not simultaneously subscribe to the belief in the prophet, even as he subscribes to the belief in God. But declaring himself as the last prophet (Akhir-ul-nabi) he closed the door for any future entrant into the line of prophets. The Almightly was debarred from recruiting or employing any servant of his choice. This was surely the height of high handedness."—From the author's Ishopanishad—a Study in Ethics and Metaphyics.

वेदवाक्यैरवेद्यः—जिसे वेदवाक्यों से नहीं जाना जा सकता, उसकी स्तुति (स्तोत्र) का विधान कैसे हो सकता है अथवा वह स्तुति का विषय कैसे हो सकता है ? परन्तु गीता (१५.१५) में स्पष्ट कहा है—**'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'** अर्थात् सब वेदों से वह (ईश्वर) ही जाना जाता है। राधाकृष्णन ने इसका अर्थ किया है—'He who is to be known by all the vedas.' कठोपनिषद् (२.१५) में लिखा है—**'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'** अर्थात् जिस पद (ओम्) का वेद बार-बार वर्णन करते हैं—'The word which the Vedas rehearse' (Radha-Krishnan)। आगे गीता में कहा है—**'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति'** (८.११) अर्थात् जिसे वेद के जाननेवाले अविनाशी कहते हैं । स्वयं वेद कहता है—**'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति'** (ऋ० १. १६४.३६) अर्थात् जो उसे (परमात्मा को) नहीं जानता वह वेद से क्या लेगा, अर्थात् उसका वेद का पढ़ना व्यर्थ है । इसका तात्पर्य है कि समस्त वेद का प्रतिपाद्य विषय परमात्मा है । इसलिए यह कहना कि 'परमात्मा को वेदों से नहीं जाना जा सकता' सत्य का अपलाप करना है । वस्तुतस्तु—

'भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति' ।

—मनु० १२.९७

सायणाचार्य ने अपने तैत्तिरीयसंहिता भाष्य के उपोद्घात में लिखा है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।
एतं विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता ॥

प्रत्यक्ष से वा अनुमान से जो अर्थ नहीं जाना जाता वह वेदों से अवश्य जाना जाता है । यही वेदों का वेदत्व है ।

परमेश्वर की स्तुति का विधान कैसे हो सकता है या वह स्तुति का विषय कैसे हो सकता है, यह कथन भी उपलब्ध प्रमाणों के विपरीत

है । ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में कितना स्पष्ट कहा है—**'अग्निमीळे पुरोहितम्'** मैं सबसे पूर्व विद्यमान अग्निस्वरूप परमेश्वर की स्तुति करता हूँ । यास्क ब्रह्म को वेद का मुख्य प्रतिपाद्य मानते हुए निरुक्त (७.४.८) में कहते हैं—**'महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते'** अर्थात् देवता (परमेश्वर) के अत्यन्त ऐश्वर्यशाली होने से एक ही देवता की अनेक प्रकार से स्तुति की जाती है । वेद का आदेश है—

'तमुष्टुहि यो अन्तः सिन्धौ सूनुः सत्यस्य' ।

—अथर्व० ६.१.२

अर्थात् हे उपासक ! तू उसी की स्तुति किया कर जो तेरे हृदयसागर के भीतर विद्यमान है, जो सत्य का प्रेरक है और सशक्त है । 'मा चिदन्यद् विशंसत' (अथर्व० २०.८५.१) किसी अन्य की विविध स्तुतियाँ मत किया करो । सामवेद को तो मुख्यतः स्तुति या उपासना का वेद कहा गया है—

'सामभिः स्तुवन्ति' । —काठक ब्राह्मण

स्वयंप्रकाशमानस्य कुतो नीराजनं विभोः ।
अन्तर्बहिश्च पूर्णस्य कथमुद्वासनं भवेत् ॥८॥

'पूर्ण' शब्द यहाँ सर्वव्यापक के अर्थ में आया है ।

नीराजन—शस्त्रास्त्रों का चमकाना, प्राचीनकाल में सैनिक व धार्मिक पर्व जिसको राजा या सेनापति आश्विन मास में संग्राम में जाने से पूर्व मनाते थे । नीराजना—अर्चना के रूप में दैवमूर्त्ति के सामने प्रज्वलित दीपक घुमाना । स्वयंप्रकाशस्वरूप और असंख्य सूर्यों, चन्द्रमाओं व नक्षत्रों को प्रकाश प्रदान करनेवाले परमात्मा के सामने एक दीपक घुमा-घुमाकर आरती करना सचमुच सूरज को दीपक दिखाना नहीं तो और क्या है ?

अन्दर और बाहर होने से उसका सर्वव्यापित्व स्वतः सिद्ध है। ईशोपनिषद् के पाँचवें मन्त्र के अनुसार परमेश्वर सृष्टि में पदार्थमात्र के भीतर भी विद्यमान है और बाहर भी। 'वस्' धातु के दो अर्थ हैं। भीतर व्याप्ति की भावना 'वस् वसने' धातु के द्वारा और बाहर व्याप्ति की भावना 'वस् आच्छादने' के द्वारा 'ईशावास्यमिदꣳ सर्वम्' शब्दों से प्रथम मन्त्र में व्यक्त कर दी गई है। सर्वव्यापक होने से आकाश की भाँति सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के कारण वह सबके भीतर है—**'व्यापकत्वादाकाशवद्बहिरतिशयसूक्ष्मत्वादन्तः'** । (शंकराचार्य) उपनिषद् के इस मन्त्र के भाव को मानो स्पष्ट करते हुए गीता में कहा है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वादविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १३।१६

वह परमात्मा भूतमात्र के भीतर भी है और बाहर भी। वह चर भी है और अचर भी। सूक्ष्म होने से वह बुद्धि का विषय नहीं। वह दूरस्थ भी है और समीपस्थ भी। अनन्त और विभू (सर्वव्यापक) होने से उसका प्रवेश और निष्क्रमण सम्भव नहीं। इतने विशाल (जैसा हम यहाँ पहले वर्णन कर आये हैं) आकारवाला परमात्मा एक छोटी-सी मूर्त्ति में कैसे समा सकता है ? और जब प्रविष्ट नहीं हो सकता तो उसके विसर्जित होने या किये जाने का प्रश्न ही नहीं उठता।

एकमेव परा पूजा सर्वावस्थासु सर्वदा ।
एकबुद्ध्या तु देवेशे विधेया ब्रह्मवित्तमैः ॥६॥

इस प्रकार ब्रह्मवेत्ताओं को सदा एकमात्र देवेश (देवों के देव) की पूजा प्रत्येक अवस्था में करनी चाहिए। जिस प्रकार 'देवानां देवः महादेवः' सब देवताओं में बड़ा महादेव कहलाता है, वैसे ही 'देवानां ईशः, देवेशः' सब देवों (विद्वानों) का स्वामी देवेश=परमात्मा है। मात्र

उसी की उपासना करनी चाहिए, ईश्वर या भगवान् नामधारी पदार्थों की नहीं।

ब्रह्मवित्—मनुस्मृति के अनुसार—

भूतेषु प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिषु बुद्धिजीविनः ।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥
ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः ।
कृतबुद्धिषु कर्त्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥

—मनु० १।९६-९७

समस्त भूतों (स्थावर व जंगम) में प्राणिमात्र श्रेष्ठ हैं। इन (प्राणिमात्र) में बुद्धिजीवी (बुद्धि से काम लेनेवाले) पश्वादि श्रेष्ठ हैं। इन सबमें मनुष्य श्रेष्ठ है। मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है। ब्राह्मणों में अधिक विद्वान् और अधिक विद्वानों में स्थिर—(कार्य-अकार्य का निश्चय करनेवाली)—बुद्धिवाले, स्थिर बुद्धिवालों में तदनुसार आचरण करनेवाले और आचरण करनेवालों में ब्रह्मवित् (ब्रह्मज्ञानी) श्रेष्ठ होते हैं। इस प्रकार जैसे-जैसे बुद्धि का स्तर और तदनुसार आचरण में वृद्धि होती जाती है, वैसे-वैसे मनुष्य में श्रेष्ठ गुणों का उत्तरोत्तर विकास होता जाता है। ब्रह्मवित् (ब्रह्मज्ञानी) का आसन सबसे ऊँचा होता है।

अन्यत्र अथर्ववेद में (१९-४३-८) में कहा है—

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे॥

(दीक्षया) व्रतों-नियमों तथा (तपसा सह) तपश्चर्या के साथ वर्त्तमान (ब्रह्मविदः) ब्रह्मवेत्ता लोग (यत्र यान्ति) जहाँ जाते हैं, (ब्रह्मा) चारों वेदों का विद्वान्=महाविद्वान्=परमात्मा, (मा) मुझे (तत्र) वहाँ (नयतु) ले-चले, पहुँचा दे। वह (ब्रह्मा) चारों वेदों का विद्वान् (मे) मुझमें (ब्रह्म)

ब्रह्म=वेदविद्या का (दधातु)आधान करे। तात्पर्य यह है कि परमेश्वर की कृपा से मैं भी उस (ब्रह्म)-लोक को प्राप्त करूँ जहाँ ब्रह्मवेत्ता जाते हैं।

इति परा-पूजा-भाष्यम्

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती
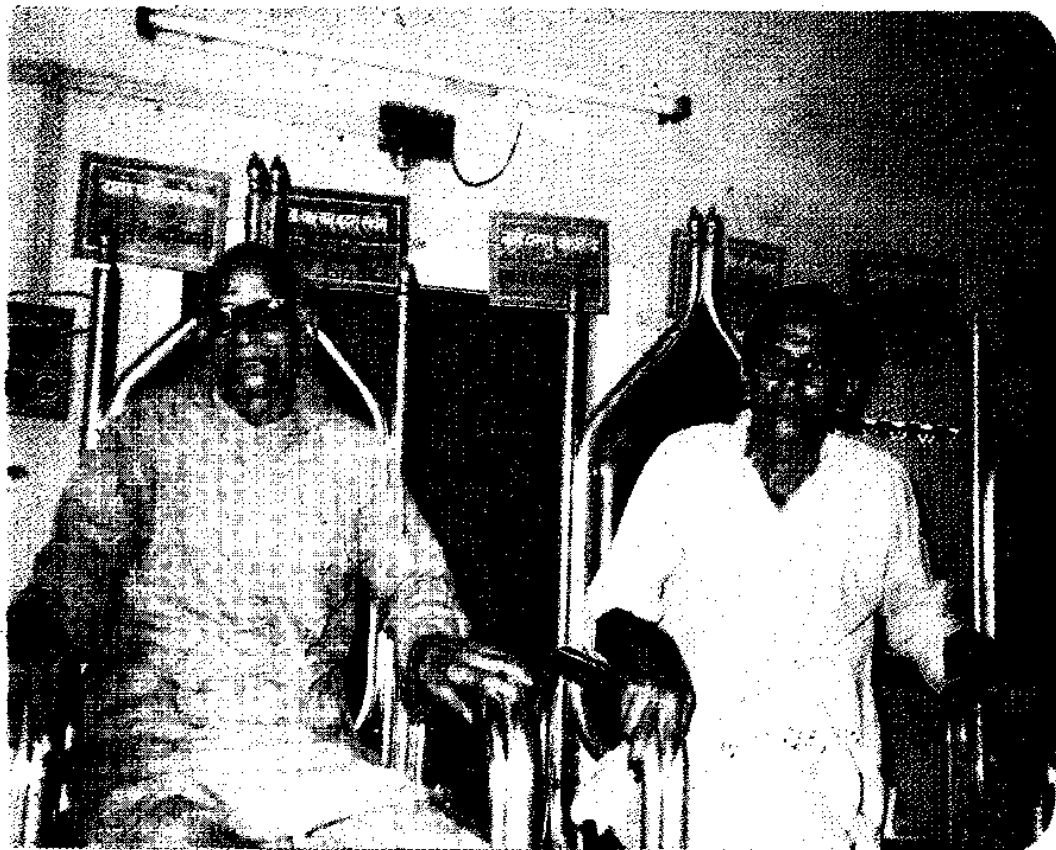
यह चित्र श्री घूडमल आर्य, पुरस्कार-समारोह के अन्तर्गत लिया गया।